International Journal of Sanskrit Research 2021; 7(6): 262-267

International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519
IJSR 2021; 7(6): 262-267
© 2021 IJSR
www.anantaajournal.com
Received: 12-09-2021
Accepted: 19-10-2021

नीटू दत्त नौटियाल
असिस्टेंट प्रोफेसर (संस्कृत),
राजकीय महाविद्यालय,
नन्दासैण चमोली, उत्तराखण्ड,
भारत

Corresponding Author:
नीटू दत्त नौटियाल
असिस्टेंट प्रोफेसर (संस्कृत),
राजकीय महाविद्यालय,
नन्दासैण चमोली, उत्तराखण्ड,
भारत

उत्तराखण्ड के संस्कृत अभिलेखों में भू-प्रबन्धन

नीटू दत्त नौटियाल

शोधसार:

भारतीय संस्कृति में आर्थिक प्रबन्धन का मुख्य स्रोत पुरुषार्थ चतुष्टय के अनुसार स्वीकार किया गया है। पुरुषार्थ चतुष्टय के अन्तर्गत धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को रखा गया है। इसमें अर्थ को आर्थिक व्यवस्था का प्रमुख तत्त्व माना गया है। मानवीय ईच्छा अनेक ऐसी वस्तुओं से आकर्षित होती है जिन्हें वह प्राप्त करने के लिए नित्य प्रयासरत रहता है। ये सभी प्रकार की आशाएँ एवं आकांक्षाएँ अर्थ द्वारा ही पूरी हो सकती हैं[1]। भारतीय धर्मशास्त्रकारों ने भी पुरुषार्थ में अर्थ को अभिभूत किया है। मानव समस्त लौकिक सुख को प्राप्त करने के लिए अर्थ को आर्थिक गतिविधियों का विशिष्ट तत्त्व मानता है। पुरातन भारतीय समाज में लोग अपना जीवनयापन करने तथा आर्थिक क्रियाकलापों में वार्ता का प्रयोग भी करते थे। यह वार्ता शब्द जो कि पुरातन काल में उपयोग किया गया था वह मानव के आर्थिक-प्रबन्धन के कार्यों से ही सम्बद्ध था।[1]

कूट शब्द: भू-स्वामित्व, भूमिदान, द्रोणवाप, नारिवाप, हस्तक, द्रोण, बीज, कटील, क्षेत्र, लेख, इजर, तलाऊ, सेरा ।

भूमिका-

प्राकृतिक संरचना में भूमि का महत्वपूर्ण स्थान है। इसे प्रकृति के स्थूल रूप में भी परिभाषित किया जा सकता है। समस्त जीव-जगत इसी भूमि से उत्पन्न होते है तथा अन्त में भी इसी में समाहित हो जाते हैं। यह समस्त प्राणी-जगत को उत्पन्न करने वाली कही गयी है। यही कारण है कि इसे अथर्ववेद में माता की संज्ञा से विभूषित किया है।[2]

सामान्यत: मनुष्य जीवन की मूल संरचना में भूमि ही कारण है। मानव भूमि से याचना करता रहता है कि स्वयं की खुशहाली के साथ-साथ हम मनुष्यों को भी नित्य समृद्धि की

[1] अमरकोष पृ.४५

[2] माता भूमि: पुत्रोऽहं पृथिव्या:, अथर्ववेद, १२.१.१२

ओर बढ़ाये। आचार्य कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में वर्णन किया है कि मनुष्यों से संयुक्त आर्थिक विकास में भूमि को कोष या धन बतलाया है।[3] भूमि का वर्तमान काल में भी महत्त्वपूर्ण स्थान है विशेषकर भारत के सम्बन्ध में बात करें तो यह आज भी कृषि प्रधान देश है जिसकी अधिकतर ग्रामीण जनसंख्या भूमि पर निर्भर करती है। यह किसी भी राष्ट्र अथवा देश की अर्थव्यवस्था में रीढ़ की हड्डी की तरह कार्य करती है और देश को अधिक विकासशील बनाने में इसका योगदान सदैव अग्रणी रहता है। यह अर्थव्यवस्था का मूलभूत स्तम्भ है। भूमि, वन, नदियां इत्यादि नैसर्गिक साधन आदि समय-समय से मानव सत्ता को जीवित तथा विकसित करती रही है।

भू-प्रबन्धन-

भू-प्रबन्धन में भूमि के अनेक पहलुओं को सम्मिलित किया जाता है। प्रारम्भिक भारत में भू-प्रबन्धन पर आधारित तथ्यों के विषय में जानकारी विविध स्रोतों से ही उपलब्ध होती है। भूमि के विभिन्न पक्षों एवं इसके स्वामित्व से सम्बद्ध स्रोतों का उल्लेख अभिलेखों द्वारा भी प्राप्त होता है। उत्तराखण्ड के अधिसंख्य अभिलेखों में भूमिदान के सम्बन्ध में वर्णन प्राप्त होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि इन अभिलेखों में उस समय के शासकों द्वारा दान में दी गयी भूमि के सम्बन्ध उल्लेख किया गया है।[4]

भू-स्वामित्व-

उत्तराखण्ड में प्राप्त संस्कृत अभिलेखों में भूमिदान से सम्बन्धित विवेचन हुआ है। इन अभिलेखों में गाँव को बसाने के लिए दान देने के अतिरिक्त भूमि दान के विषय से सम्बन्धित सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। यदि हम भारतीय इतिहास पर नजर डालें तो सातवाहन शासकों ने अश्वमेधयज्ञ के समय एक ग्राम को दान में दे दिया था। सातवाहनों का काल ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी माना जाता है।[5] तालेश्वर, अशोकचल्ल गोपेश्वर, उतरकाशी के शक्ति स्तम्भ के लेख तथा सुभिक्ष राज के बागेश्वर ताम्रपत्र से प्रतीत होता है भूमि पर राजा का एकछत्र अधिकार था। जिसमें उन्होंने अपनी कीर्तियों तथा प्रजा के बीच स्वयं को सर्वेसर्वा घोषित करने का प्रयास किया है।[6] याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका मिताक्षरा में भी एक स्थल पर उल्लेख मिलता है कि भूमिदान का अधिकार केवल राजा के पास था।[7] उत्तराखण्ड के चमोली जनपद में पाण्डुकेश्वर से प्राप्त अभिलेखों में भूमि के व्यक्तिगत, मालिकाना तथा सामुदायिक अधिकारों की पुष्टि करते है। राजा ललितसुर का बदरीनाथ मन्दिर के लिए भी भूमिदान देने के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है।[8]

भू-मापन-

उत्तराखण्ड प्राचीन से ही एक कृषि प्रधान राज्य रहा है। जिसका प्रारम्भ वैदिक काल से माना जाता है। इस समय लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि था। जिसके विषय में जानकारी अभिलेखों एवं साहित्यिक स्रोतों में भी प्राप्त होता है। कृषि विषयक प्रमाण सिन्धु घाटी की सभ्यता से भी इसके प्रमाण मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं। भारतीय पुरातत्व विभाग को खुदाई करते समय यहां अनेक प्रकार अनाजों के साक्ष्य मिले हैं।[9] वैदिक कालखण्ड में लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि ही था। इसके विषय में हमें ऋग्वेद तथा इससे इतर के ग्रन्थों में सुव्यवस्थित ढंग से उल्लेख मिलता है। वैदिक काल में आर्य जन खेतों की बुआई, जुताई तथा सिंचाई की क्रियाएं सम्यक विधि से किया करते थे।[10] भारत के उत्तर में स्थित देवभूमि उत्तराखण्ड भी पुरातन समय से

---

[3] मनुष्यवती भूमिरिव्यर्थ, कौटिल्य अर्थशास्त्र.१८०

[4] यस्य यस्य यदा भूमिस तस्य तस्य तदा फलम। सुभिक्षराजदेव का ताम्रशासन

[5] Sel, ins; vol-1,194 दखिना दिना काहापना 4000 ग्रामें।

[6] स्वं बिम्बं चित्रबिम्बाम्बरतलतिलकं यावदर्कों विधते। तावत्कीर्ति: सुकीतश्चिरमरिमथनस्यास्तुं राज्ञ: स्थिरेयम। श्री गुह का त्रिशूलाभिलेख

[7] याज्ञवल्क्य, मिताक्षरा,१३१८-२०

[8] द त: देवब्राह मणभुक्तभुज्यमानवर्जित: यतस सुखं पारंपरयेंण परिभुञ्जतश चास्योपरिनिर्द्दिष्टेर अन्यतरैर व्वा धरण- विधारण। ललितसुरदेव ताम्रपत्र.

[9] रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का परिचय पृ.२३४

[10] जयदेव विद्यालंकार, वैदिक साहित्य का इतिहास पृ.५६

ही कृषि प्रधान राज्य रहा है। यहां कृषि कार्य तथा कर विधि के निर्माण के लिए भू-मापक विधि भी प्रचलन में थी। इसलिए तत्कालीन अभिलेखों से अर्थव्यवस्था के विकास में प्रयोग होने वाले भू-मापक सम्बन्धी पद्धतियों का विशद विवेचन हुआ है।[11]

उत्तराखण्ड के तालेश्वर नामक स्थान से प्राप्त ताम्रपत्रों में द्रोण, कुल्य, खारि जैसे भू-मापक के अनेक शब्दों का उल्लेख किया गया है। इन सन्दर्भो से यह प्रतीत होता है कि उत्तराखण्ड में भू-मापक की परम्परा विद्यमान थी।[12]

द्रोणवाप-

संस्कृत कोशग्रन्थों में वप का अर्थ बीज बोने के लिए प्रयोग हुआ है। प्राचीन भारतीय अभिलेखों में वप का प्रयोग बीज की मात्रा को प्रकट करने में किया गया है। तालेश्वर अभिलेखों में द्रोण वाप का वर्णन हुआ है। एक द्रोण लगभग ३२ सेर का होता है। अन्य मानकों से साम्यता करते हुए एक द्रोण वाप ३२ सेर या १६ नाली का माना गया है।[13] आधुनिक काल में भी उत्तराखण्ड के कुमाऊँ मण्डल में द्रोण दुन के रूप में प्रचलित है। इसलिए तालेश्वर ताम्रपट्टो में उल्लेखित एक द्रोण वाप को उतने क्षेत्र में समीकृत किया जा सकता है जितने में ३२ बीज छिंटकर बोए जा सकते हैं। आज भारत में भी एक नाली को मानकीकृत कर २४० वर्ग गज निर्धारित है। इसके अनुसार एक द्रोण माप ३८४० वर्ग जग क्षेत्र का परिचायक है।[14] द्रोण वाप उस विशाल भू-भाग का सूचक है जिसमें एक द्रोण धान्य के बीज को जमीन में बोया जा सके। इस प्रकार द्रोण एक परिमाण का द्योतक है तथा द्रोणवाप भू-माप का।

कुल्यावाप-

उत्तराखण्ड में भूमि मापने की एक महत्त्वपूर्ण विधि है जिसकी पुष्टि अभिलेखों से होती है। सही मायने में वाप बीजों के बोने से सम्बन्धित है तथा इनके भार के अनुसार द्रोण, कुल्य मापक विधियाँ प्रचलन में थी। जिसके परिमाण स्वरूप पृथक-पृथक कालखण्डों में अलग-अलग जगहों पर एक समान नहीं था।[15] डा. सी. सरकार का कहना है कि एक कुल्य को आठ द्रोण के बराबर माना जाता है। कुल्यवाप शब्द का उल्लेख प्राचीन अभिलेखों में भी हुआ है।[16] गुप्तकाल में कुल शब्द का प्रयोग कई बार हुआ है। कुमार गुप्त ने बंगाल में एक डोडुग गांव के उत्तर-पश्चिम में एक कुल्यवाप जमीन दान में दी थी।[17]

वर्तमान समय मेम इस शब्द को स्पष्ट करना कठिन है। उत्तराखण्ड के स्थानीय भाषा में इसका अर्थ कुलि बतलाया जाता है तथा एक कुलि आठ द्रोण के बराबर माना जाता है। इसको आधार मानते हुए वाप उतना ही क्षेत्र में माना जाता है जिसमें २५६ सेर बीज छिड़कर बोयें जा सकते हैं। आधुनिक मानकों के आधार पर यह ३०७२० वर्ग गज क्षेत्र का परिचायक है।

खारिवाप-

उत्तराखण्ड कुमाऊ मण्डल में प्रचलित एक खारिवाप बीस द्रोण की मानी जाती है। अत: एक खारिवाप ऐसे भू-भाग को कह सकते है जिसमें २० द्रोण या ६४० सेर बीज छिड़कर भूमि में बोये जा सकें। इसकी पुष्टि तालेश्वर अभिलेख से होती है।[18]

नालिकावाप-

सुभिक्षराज के ताम्रशासन में नालिका वाप का उल्लेख प्राप्त होता है। प्राचीन समय में नालिका वाप एक भू-मापक का साधन था। जो किसी विशिष्ट बर्तन द्वारा मापा जाता था। वर्तमान में भी उत्तराखण्ड में नाली माप प्रचलित है। जो काष्ठ निर्मित एक बर्तन के आयतन पर आधारित है। पुरातन समय में यह आयतन पृथक-पृथक जगहों में एक किलोग्राम से पांच किलोग्राम बीज के भार तक पाया जाता था और

[11] Indian Antiquary, vol. xxxv,1896, p.177-184
[12] Epigraphic Indica, Vol.13,1915-16, pp.109-121
[13] द्रोणानां वाप:। सुभिक्षराजदेव ताम्रशासन
[14] Epigraphia Indica, Vol.13,1915-16, pp.109-121
[15] Epigraphia Indica, Vol.13,1915-16, pp.109-121
[16] Sarkar, D.C. Ind.epi Glossary, P.409
[17] डोडगया उत्तरपश्चिम देशे कुल्यावाप मेकम दन्तभ।
[18] Epigraphia Indica, Vol.13,1915-16, pp.109-121

यह बीज जितने क्षेत्र में छिड़कर बोया जाता था, उसे एक नाली माप का क्षेत्र माना जाता था।[19]

हस्तक-

हस्तक का सामान्यत: अर्थ हाथ से है। पाण्डुकेश्वर ताम्रपत्र में भूमि-नाप के ईकाई के अन्तर्गत इसका वर्णन हुआ है। हस्तक, मुष्टिका या मुठी के रूप में प्रयोग हुआ है। इसमें एक हस्तक अथवा मुठ्ठी धान्य जितने क्षेत्र में छिटककर भू-भाग में बोया जा सकता है। इस प्रकार के भूमि क्षेत्रफल को एक हस्तक कहा जाता है। यह माना जाता है कि एक मुठ्ठी १५ वर्ग गज क्षेत्र को दर्शाती है।[20]

भूमि के प्रकार:-

उत्तराखण्ड के अल्मोड़ा तालेश्वर ताम्रपत्र मुख्य रूप से भूमिदान से सम्बन्धित हैं । ताम्रपत्र लेखों में क्षेत्र, खण्ड, भूमि, जंगल, तोली, सभी प्रकार की भूमियों का उल्लेख मिलता है।[21] पाण्डुकेश्वर शासक के ताम्रपत्रों से पता चलता है कि तत्कालीन समाज में भूमि की उपयोगिता तथा उत्पादन के अनुरूप भूमि अनेक श्रेणियों में विभाजित थी। 'पल्लिका' को गाँव की भूमि, 'वृत्ति' मानव जीवन की जीविकोपार्जन के लिए, 'कर्मान्त' खानों के खनिज आदि के लिए प्रयुक्त भूमि, शरण भवन-स्थल आदि बनाने के लिए प्रयोग में लायी जाती थी।[22] इन भूमियों का मुख्य रूप से तीन भागों में भी विभाजन किया जा सकता है जिनमें कृषि योग्य भूमि, ऊसर भूमि एवं निवास अथवा वास करने योग्य भूमि है।

कृषि योग्य भूमि-

उत्तराखण्ड के अभिलेखों में कृषि योग्य भूमि को क्षेत्र, लेक, इजर या इजरान, बगड़, तलाऊ, सेरा, सिमार, उपराऊ, खील एवं कटील अन्तर्गत रखा गया है। इन भूमियों के बारे जानना भी आवश्यक है अत: कृषि योग्य भूमियों का विवेचन निम्न प्रकार से किया जा रहा है-

क्षेत्र:-

क्षेत्र भूमि का उल्लेख तालेश्वर ताम्रपत्रों में हुआ है। इस शब्द का प्रयोग वैदिक काल में भी मिलता है। वैदिक साहित्य में इस शब्द का प्रयोग अनेक प्रकार की भूमि विस्तार के रूप में प्रयुक्त हुआ है। वहां इसका प्रयोग कृषि क्षेत्र के लिए किया गया है जैसे की जोते हुए खेत, उर्वरा क्षेत्र भी कहें गये हैं। इन ताम्रपत्रों में इस शब्द का प्रयोग कृषि योग्य भूमि के साथ- साथ किसी स्थान विशेष के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है।[23] क्षेत्र से अभिप्राय उर्वरा मिट्टी से है। जैसा की मैंने ऊपर उल्लेख किया है इसको कृषि योग्य भूमि के लिए उपयुक्त माना है। अमरकोश में उल्लेख मिलता है खेतों में उगाएं जाने वाली फसलों को विकसित रूप देने में सामर्थ्य रखने वाले इस क्षेत्र का एक महत्त्वपूर्ण रूप वर्णन किया गया है।[24]

लेक- यह भूमि पर्वत के शिखर के आस-पास कुछ ऐसे क्षेत्र होते हैं जो कृषि के लिए उपयोग में लाये जाते हैं।[25]

इजर:-

यह भूमि उतार-चढ़ाव वाली होती है। ये पहाड़ों एवं पर्वतों के ऊपरी सतह जिसे पहाड़ी भाषा में डांडा कहा जाता है। वहाँ ढ़ालदार जगहों पर होती है। इसको और स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि यह ऐसी भूमि है जो अभी तक कतिपय स्थानों में कृषि रूप में प्रयोग में नहीं लायी जा सकी थी। किन्तु किसी व्यक्ति विशेष के देख-रेख में होती हो। इस प्रकार की भूमि पर सीढ़ीदार खेतों का निर्माण किया जाता है और तीन वर्षों के अन्तराल में फसले उगायी जाती है। इस प्रकार की भूमि की सिंचाई नहीं हो पाती है यह सम्पूर्ण रूप से वर्षा के जल पर निर्भर रहती है।[26]

---

[19] भेटसार्यां भूखण्डम अष्टनालिका वाप: सुभिक्षराजदेव का ताम्रपत्।

[20] पंकहस्तमेकं। सुभिक्षराजदेव का ताम्रपत्र।

[21] द्युतिवर्मन का तालेश्वर ताम्रपत्र

[22] पल्लि पल्लिकावृत्तिक-कर्मान्तादिभूमि। पाण्डुकेश्वर, ताम्रपत्र

[23] द्विजवर्मन का ताम्रपत्र

[24] अमरकोश पृ.५६

[25] कीर्तिचन्द्र धौलपुर ताम्रपत्र

[26] बाजबहादुरचन्द्र, बदरीनाथ मन्दिर ताम्रपत्र

बगड़-

इस प्रकार की भूमि ऐसे स्थानों पर होती थी जो नदी के तट के समीप गहरे हुए हो तथा सिंचित न हो पायी हो।[27]

तलाऊ-

यह ऐसी भूमि होती है जो सम्पूर्ण रूप से सिञ्चित होती है। इसकी मिट्टी अत्यधिक उपजाऊ होती है। इस प्रकार की भूमि निरन्तर प्रवाहित होने वाली नदियों के समीप होती है।[28]

सेरा-

यह अधिक उपजाउ भूमि होती है। जो कि नदी के किनारे अधोघाटियों में होती है। उत्तराखण्ड की स्थानीय भाषा गढ़वाली में इसे गवाली का सेरा, जाबली का सेरा तथा बांसुली का सेरा तथा जौनसार में इसे मड्डे का सेरा आदि नामों से जाना जाता है।[29]

सिमार-

एस. डी. पन्त ने इस प्रकार की भूमि के विषय में अपनी पुस्तक सोशियल इकोनामी आँफ द हिमालयन्स में उल्लेख किया है। यह ऐसी भूमि होती है जो सेरा के ऊपरी सतह पर मिलती है। इसमें ग्रीष्मकाल में जल का अभाव रहने के फलस्वरूप इसको सिंचाई आवश्यकता होती है।[30]

उपराऊ- इस प्रकार की भूमि अधिकतर ऐसे स्थानों, ऊंचे जगहों पर होती है, जहाँ सिंचाई के कोई भी साधन उपलब्ध होने बहुत कठिन हैं।[31]

खील व कटील-

इस प्रकार की मिट्टी की भूमि पहाड़ों के ऊपरी ढ़ालों पर मिलती है तथा इस भूमि में सीढ़ीदार खेत का निर्माण भी नहीं हो सकता है साथ ही इन पर हल से जुताई भी नहीं हो सकती है क्योंकि यह भूमि अत्यन्त ही पथरीली होती है और नहीं इस पर उपज हो पाती है। यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार की भूमि पर फसल उगाने चाहे तो वह कई वर्षों के उपरान्त ही कर सकता है क्योंकि इस पर झाड़ियां इतनी सघन होती हैं कि उनको एकदम साफ करना बहुत ही दुष्कर है। इसकी सघन झाडियों को काटकर या हटाकर इसे आग से जलाई जाती हैं। उत्तराखण्ड में इसे कई नामों से जाना जाता है। उत्तराखण्ड के कूर्माचल में इसे खिल, कटील, बजर तथा गढ़वाल में खिल और कण्डाला, गढ़वाल में जौनसार क्षेत्र में काडे की भूमि के रूप में अनुग्रहित की है।[32]

ऊसर भूमि-

इस भूमि के सम्बन्ध में कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता है। किन्तु साहित्यिक सन्दर्भों से इस प्रकार की भूमि के विषय उल्लेख मिलता है। यह ऐसी भूमि थी जो कृषि के उपयोग के लिए प्रयोग नहीं की जाती थी। आधुनिक समय में इस प्रकार भूमि को बंजर भूमि के नाम से जाना जाता है।[33]

वास योग्य भूमि:-

कृषि योग्य भूमि और बंजर के अतिरिक्त मानव के निवास में प्रयोग की जाने वाली भूमि को वास्तु योग्य भूमि का नाम से अभिहित किया जा सकता है। पाण्डुकेश्वर ताम्रपत्रों इसका पल्लिका एवं शरण भूमि के नाम से उल्लेख हुआ है।[34]

निष्कर्ष:

राज्य के आर्थिक विकास के लिए भू:प्रबन्धन को सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्त्व माना गया है। क्योंकि राज्य अथवा देश के विकास के लिए परम आवश्यक है। किसी भी देश को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए भू:प्रबन्धन को राज्य तथा देश के अनिवार्य सिद्धान्तों में वर्णित किया जा सकता है,

---

[27] बाजबहादुरचन्द्र, बदरीनाथ मन्दिर ताम्रपत्र

[28] बाजबहादुरचन्द्र, बदरीनाथ मन्दिर ताम्रपत्र

[29] सोशियल इकोनामी आफ द हिमालयन्स

[30] सोशियल इकोनामी आफ द हिमालयन्स

[31] गढ़वाल हिमालय, पृ.३४

[32] Historical Geography of the central Himalayan by, Tarachanti tripath

[33] historical Geography of the central Himalayan by, Tarachanti tripath

[34] पल्लिकावृत्तिक ,पद्मभटदेव का ताम्रपत्र

ताकि राज्य के विकास में किसी भी प्रकार की परेशानी न हो। भू-प्रबन्धन के अभाव में कोई भी राजकीय कार्य नहीं हो सकता है। प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रीय व राजनैतिक ग्रन्थों में भू-प्रबन्धन की विशेषता को स्वीकार किया गया है। इनके अनुसार राज्य की रक्षा उपायों व साधनों में भूमि का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। भूमि के बिना शासक किसी भी प्रकार से आय के साधनों में वृद्धि नहीं कर सकता है। इसलिए यदि किसी शासक के राज्य में भूमि का अभाव हो तो, उसे अनेक प्रकार की आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

सम्भवत: अभिलेखों में इसकी उपयोगिता को दृष्टिगत रखते हुए इसका उल्लेख किया गया होगा क्योंकि किसी भी राज्य का शासक अपने नागरिकों पर तभी कर लगाने में सक्षम होता है जब उसके राज्य में अच्छा भू-प्रबन्धन हो। यही कारण है कि अभिलेखों में भू-प्रबन्धन के अन्तर्गत भू-स्वामित्व, भू-मापन और भूमि के प्रकार आदि को रखा गया है।

सन्दर्भग्रन्थ सूची

1. सुभिक्षराज देव का ताम्रपत्र
2. पद्मदेव का ताम्रपत्र
3. ललितसुरदेव का ताम्रपत्र
4. श्री गुह का त्रिशूल अभिलेख
5. अशोकचल्ल का अभिलेख
6. बाजबहादुरचन्द्र का बदरीनाथ मन्दिर ताम्रपत्र
7. द्युतिवर्मन का तालेश्वर ताम्रपत्र
8. कीर्तिचन्द्र का धौलपुर ताम्रपत्र
9. अथर्ववेद, प्रो. विश्वनाथ विद्यालंकार, चौधरी प्रताप सिंह धर्मार्थ ट्रस्ट, माडल टाऊन, करनाल,, १९७७
10. कौटिल्य अर्थशास्त्र, वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, १९९१
11. याज्ञवल्क्यस्मृति: निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९४९
12. वैदिक साहित्य का इतिहास, डा. रघुवीर वेदालंकार, चौखम्भा ओरियन्टालिया, दिल्ली,११०००७
13. अमरकोष, अमर सिंह, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९९८०